जैनसिद्धान्तदिग्दर्शन

[पप्रील ता. २४-२५-२६ (१९३७) की
धुलीया (खानदेश) की
सर्वधर्म-परिषद् के लिए
लिखित निबन्ध ।]

309

1641

卐

लेखक
न्यायविशारद-न्यायतीर्थ
मुनि महाराज श्री न्यायविजयजी

जैनसिद्धान्तदिग्दर्शन

[एप्रील ता. २४-२५-२६ (१९३७) की धुलीया (खानदेश)
की सर्वधर्म-परिषद् के लिए लिखित निबन्ध ।]

लेखक

न्यायविशारद-न्यायतीर्थ

मुनि महाराज श्री न्यायविजयजी

प्रकाशक

भोगिलाल दगडुशा जैन

मालेगाम (नाशिक)

मालेगामनिवासी सद्गत श्री भागाबाई के अर्थ-योग से मुद्रित

प्रत : ५००

मुद्रकः शेठ देवचंद दामजी, आनंद प्रेस–भावनगर

वीर सं. २४६३
वि. सं. १९९३

'जैन' का अर्थ और तत्त्वोपन्यास

आज मैं एक ऐसे धर्म पर कुछ कहने को प्रवृत्त हुआ हूँ, जिसकी प्राचीनता एवं पवित्रता को जगत्भर के पुरातत्त्वविशारदों ने स्वीकार किया है। उस धर्म का अभिधान [नाम] ही यह बतला रहा है कि उसका मुख्य और अन्तिम ध्येय क्या है? 'जैन' शब्द 'जिन' पर से बना है; और 'जिन' शब्द 'जि' धातु से निकला है। 'जि' धातु का अर्थ है—'जीतना'—To Conquer। अतएव 'जिन' का अर्थ हुआ—रागद्वेषादि दोषों का विजेता, समग्र कषायों (Passions) का विजेता, आत्मा के आवरण-भूत समस्त कार्मिक बलों का विजेता। यही परम आत्मा परमात्मा है और इसका बताया हुआ मार्ग—मंगलसाधक मार्ग 'जैन धर्म' कहलाता है। जैन धर्म की इस व्युत्पत्ति से स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा की परम मुक्ति एवं उसका मार्ग बताना यही उसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। इसी मुख्य सिद्धान्त पर उसके मूलभूत शास्त्रों [आगमों] में बड़ी सूक्ष्मता, बड़ी विशदता और बड़े विस्तार से महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन किया गया है। उसने दो तत्त्व माने हैं:—चेतन और जड़—Animate and inanimate

[Soul and Matter] । और इन्हीं दो तत्त्वों के, आध्यात्मिक भावना के दृष्टिकोण से नौ भेद किए हैं, जो ' नव तत्त्व ' के नाम से प्रसिद्ध हैं । नौ तत्त्व ये हैं:—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, बन्ध, निर्जरा और मोक्ष ।

विद्वान् पाठक देख सकते हैं कि तत्त्वों का यह उपन्यास कैसा व्यवस्थित, कैसा हृदयग्राही और आध्यात्मिक दृष्टि से कैसा उपयुक्त है । जीव और अजीव तत्त्व तो प्रसिद्ध हैं । चैतन्यरूप तत्त्व जीव और अचेतन जड़रूप तत्त्व अजीव । अब इन्हीं के विवरणभूत शेष तत्त्वों को जरा देखें ।

पुण्य—पाप यद्यपि सत्कर्म--दुष्कर्म को कहते हैं, तथापि यहाँ वे खास अधिक अर्थ पर हैं । सत्कर्मजनित पुण्य संस्कार और दुष्कर्म-जनित दुष्ट संस्कार [Crystalised effect], जो दीर्घकाल तक, जन्मान्तर तक भी आत्मा से लगे रहते हैं, पुण्य–पाप हैं । वे कार्मिकपरमाणुसंघातापन्न द्रव्यरूप हैं और परम सूक्ष्मरूप हैं । क्रिया तो क्षणिक है, वह फलसाधक कैसे हो सकती है ? कहा है:—

" चिरध्वस्तं फलायालं न कर्मातिशयं विना* । "

अत एव क्रियोत्पादित कोई ' अतिशय ' या ' अदृष्ट ' अथवा ' संस्कार ' प्राचीन दार्शनिकों ने साबित किया है, जो चिरकाल तक, जन्मान्तर तक भी आत्मसम्बद्ध रह कर परिपाक के समय पर आत्मा को अपना फल चखाता है । इस ' अदृष्ट ' अथवा ' कर्म ' का अस्तित्व न हो, तब तो मनुष्य--कृति का फल ऐहलौकिक

* उदयनाचार्यविरचित न्यायकुसुमाञ्जलि का श्लोकार्ध ।

मानापमानादि तक ही सीमित रहेगा। परन्तु जगत् में क्या ऐसा नहीं देखा जाता है कि मनुष्य के अच्छे या बुरे कार्य, विना ही ऐहलौकिक [पुरस्कार--तिरस्कारादि] फल के, बिल्कुल तिरोहित भी रहते हैं, रह जाते हैं? तब ऐसी हालत में वे कार्य बिल्कुल वन्ध्य ही रह जायँगे! वस्तुतः अनन्तवैचित्र्यात्मक जगत् कर्मवैचित्र्य--मूलक ही उपपन्न हो सकता है। सर्वथा निरपराधी मारा जाता है; निरुपद्रव परिस्थिति में भी मनुष्य सहसा भयंकर एक्सीडेन्ट का शिकार बनता है; भिन्न भिन्न व्यक्तियों के समान उद्यम रहते हुए भी और उनकी एक सरीखी तैयारी रहते हुए भी उनकी फल-सिद्धि में वैचित्र्य पाया जाता है; उनमें साफल्य--नैष्फल्य का भी महद् अन्तर पड़ जाता है; समान परिस्थिति में पालित--पोषित युग्मजात व्यक्तियों की बुद्धि और स्मरणशक्ति में तीव्र--मन्दताकृत महान् भेद नजर आता है;—ऐसा अनेकानेक वैचित्र्य संसार में, हमारे व्यवहार--पथ पर प्रत्यक्ष दीख रहा है, उसकी उपपत्ति के मूल में कर्मवाद का सिद्धान्त ही उपयुक्त होगा।

प्राचीन तत्त्ववेत्ताओं ने अदृष्टरूप पुण्य--पाप को संसार--गति के चक्ररूप बतलाया है। महात्मा बुद्ध को एक वक्त चलते हुए जब उनके पैर में कांटा चुभा, तब उन्होंने अपने भिक्षुओं से कहा:—

"इत एकनवतिकल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः।
तेन कर्मविपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः!❀॥"

❀ मैंने इस भव से ९१ वें जन्म में एक पुरुष को शक्ति से मारा था, उस कर्म के विपाकोदय से, भिक्षुओ! मेरे पांव में कांटा चुभ गया।

यह तो एक उदाहरण मात्र है। इस तरह कर्मपरिणामदर्शक घटनाएँ वैदिक साहित्य में भी वर्णित हैं, और जैन धर्म के आगम-शास्त्रों का तो कहना ही क्या? उनके अन्दर तो ऐसी घटनाओं का प्राचुर्य बहुत ही फैला हुआ है। खुद भगवान् महावीर का चरित्र कार्मिक परिणामों के विचित्र चित्रों का भांडागार है।

नौ तत्त्वों में एक अजीव सिवाय बाकी सब तत्त्व जीव की अवस्थाएँ हैं। पुण्य-पाप जीवसंसृष्ट कर्म हैं। 'आस्रव', जीव का वह व्यापार है जिससे कर्मों का उसके प्रति आकर्षण होता है—जिससे कर्मों का उससे सम्बन्ध होता है। 'संवर', जीव का वह प्रयत्न है जिससे कर्म का आकर्षण-कर्म का बन्धन रुक जाता है। Āsrava is the influx or Channel of Karmas, while Samvara is the stoppage of Āsrava. 'बन्ध' आत्मा का कर्म से सम्बन्ध होने का नाम है, और 'निर्जरा' आत्मसम्बद्ध कर्मों का विदारण। 'मोक्ष' समग्र कर्म-बन्धों से छुटकारा पाने को कहते हैं। जीव की इन अवस्थाओं में पुण्य-पाप, 'आस्रव' और 'बन्ध' उसकी अस्वाभाविक [unnatural] अवस्थाएँ हैं, और 'संवर' और 'निर्जरा' ये आत्मा के स्वाभाविक और उसे उसकी सच्ची स्थिति पर ले जानेवाले महान् गुण हैं*। ये दो उसके सच्चे विकासरूप उज्ज्वल प्रयत्न हैं; और इन्हीं प्रयत्नों की अन्तिम अवस्था-पराकाष्ठा यह मोक्ष है। वह आत्मा का तमाम कर्म-बन्धों

* संयुक्त कर्म वियुक्त होगा ही। भावशून्य वेदन से भी अथवा स्वकीय स्थिति पूर्ण होने पर वह जीव से हटेगा ही। पर यह-ऐसी निर्जरा-मूल्यवान् नहीं। आत्मभावना से कर्मों का जो विदारण होता है, वही मूल्यवान् निर्जरा है।

से मुक्त होना है—Final emancipation or beatitude of the soul from all the Kārmic forces. इस तरह जब आत्मा का मोक्ष होता है, तब उसका अपने मूल स्वरूप में पूर्णतया प्रकट होना स्वाभाविक है। यही परमात्मपद है, यही ईश्वरत्व है और यही पारमेश्वरी स्थिति है।

ईश्वर और जगत्कर्तृत्व-मीमांसा

जैन धर्म की दृष्टि में, जो जो आत्मा इस (मोक्ष) स्थिति को पहुँचे हैं वे सब ईश्वर हैं। इनसे अतिरिक्त कोई खास एक ईश्वर है यह बात जैनदर्शन को सम्मत नहीं है। वह इस बात को नहीं स्वीकार करता कि कोई एक सृष्टिकर्त्ता ईश्वर है। जैन धर्म के दार्शनिक ग्रन्थों में इस बात पर बड़ा पर्यालोचन किया गया है और अन्ततः इस मन्तव्य को अघटित ठहराया है। उसका कहना है कि दुन्यवी कलाकार मनुष्य भी, जो कि बहुत अल्पज्ञ, बहुत असमर्थ और बहुत अपूर्ण है, अपनी कला को, अपनी कारीगरी को, बन सके वहाँ तक सौन्दर्यपूर्ण बनाने की कोशिश करता है; तो ईश्वर, जो कि सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् माना गया है, उसकी सृष्टि-कला कितनी सुन्दर होनी चाहिए ! ऐसी दुःखपूर्ण और बेहुदा सृष्टि यदि ईश्वर का सर्जन माना जाय तो वह सृष्टि-कला का प्रशंसनीय कलाकार नहीं समझा जायगा। जरा देखिए कि, संसार में दुःख, शोक, सन्ताप, मद, ईर्ष्या, अहंकार, क्रोध, काम, दम्भ, तृष्णा, वैर वगैरह कितने भरे पड़े हैं ? क्या ऐसी ही सृष्टि ईश्वर के कलाकारित्व का नमूना होगी ? यह कहा जाय कि प्राणी की दुःखी हालत उसके कर्म का फल है, तो इस पर यह प्रश्न होगा कि वैसा कर्म जीव से कौन करवाता है ? यदि जीव स्वयं ऐसा कर्म करता है और उसका फल भोगता है,

तब तो यह कर्म का कर्तृत्व सिद्ध हुआ, ईश्वर का कर्तृत्व नहीं रहा। यदि यह कहा जाय कि कर्म जड़ होने से जीव को फल देने में स्वयं समर्थ नहीं हो सकता, इस लिए यह ईश्वर का ही काम है कि वह जीव को उसके किए हुए कर्म का फल दे, तो यह तो ईश्वर पर बड़ी भारी उपाधि लाद दी जाती है! यह तो सचमुच ईश्वर को बड़ी खटपट में डाल देना हुआ! इसके सम्बन्ध में प्रसिद्ध-नामधेय वैदिक दार्शनिक विद्वान् वाचस्पतिमिश्र के उद्गारों को उपस्थित करूँ, इसके पहले, बड़ी से बड़ी मुश्किली हमारे सामने जो खड़ी होती है, उसकी ओर विचारक वर्ग का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ कि, वह (ईश्वर) जीवों को बुरा काम करने ही क्यों देता है? उन्हें क्यों नहीं सुधार देता? अथवा बुरा काम करने के पहले ही उन्हें क्यों नहीं रोकता? दुन्यवी राजा लोग तो अल्पज्ञ और परिमित शक्तिवाले हैं; फिर भी उन्हें मालूम हो जाय कि अमुक शख्स खून या चोरी करने जा रहा है, तो उसको वे पहले ही रोक देंगे। ऐसा नहीं होगा कि उसे चोरी या खून करने देंगे और पीछे से उसे सजा फरमायँगे। ईश्वर जब सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है, तो उसका भी यही कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह प्राणी को दुष्कर्म करने के पहले ही रोक दे। अपनी दृष्टि-समक्ष प्राणी को दुष्कर्म करने देना, दुष्कर्म करने को तत्पर हुए उसको न रोकना और पीछे उसको उसके कर्म की सजा करना यह विचित्र बात नहीं है? कोई अन्धा मनुष्य कुए में गिरने की हालत में है, तब उस वक्त निकटवर्ती दूसरा मनुष्य देखता हुआ भी और क्षमता रखता हुआ भी उसे न बचा ले, तो उसको कैसा समझना चाहिए? ईश्वर दुष्कर्म में पड़ते हुए प्राणियों को न रोक ले और उन्हें दुष्कर्म करने दे और पीछे उन्हें उनके

कर्म की सजा करे यह उसकी असंगत चेष्टा न होगी ? उच्च चारित्रशाली सत्पुरुष के पवित्र सत्संग से दुष्ट मनुष्य भी सुधर जाता है ऐसे उदाहरण हमारी दृष्टि के सामने मौजूद हैं, तो ईश्वर, जो पूर्ण पवित्र और पूर्ण उज्ज्वल है, दुराचरणी जीवों को सुधार ही क्यों नहीं देता ? ताकि कोई प्राणी बुरा कर्म ही न करे। सुशिक्षित और सच्चरित्रशाली माँबाप अपने बालबच्चों में अच्छी भावना और अच्छा संस्कार डाल सकते हैं, तो पूर्ण पवित्र ईश्वर प्राणियों में अच्छी बुद्धि क्या नहीं भर दे सकता ? ईश्वर की सृष्टि में दुर्बुद्धि का वातावरण ही क्यों होना ? उसको सर्वत्र सद्बुद्धि का प्रकाश ही फैला देना चाहिए। फिर क्यों कोई पाप करने लगेगा ? और सोचिए, उस हालत में ईश्वर की सृष्टि कैसी रम्य होगी !

वैदिक दर्शनों में भी कई ऐसे हैं जिन्हें ईश्वर का जगत्कर्तृत्व स्वीकृत नहीं है। उदाहरणार्थ, देखिए वाचस्पतिमिश्रविरचित 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' का ५७ वीं कारिका पर का उल्लेख:—

"प्रेक्षावतः प्रवृत्तेः स्वार्थकारुण्याभ्यां व्याप्तत्वात्। ते च जगत्सर्गाद् व्यावर्त्तमाने प्रेक्षावत्प्रवृत्तिपूर्वकत्वमपि व्यावर्त्तयतः। न ह्यवाप्तसकलेप्सितस्य भगवतो जगत् सृजतः किमप्यभिलषितं भवति। नापि कारुण्यादस्य सर्गे प्रवृत्तिः। प्राक् सर्गात् जीवानामिन्द्रिय-शरीर-विषयानुत्पत्तौ दुःखाभावेन कस्य प्रहाणेच्छा कारुण्यम् ? सर्गोत्तरकालं दुःखिनोऽवलोक्य कारुण्याभ्युपगमे दुरुत्तर-मितरेतराश्रयत्वं दूषणम्। कारुण्येन हि सृष्टिः, सृष्ट्या च कारुण्यमिति। अपि च करुणया प्रेरित ईश्वरः

सुखिन एव जन्तून् सृजेद्, न विचित्रान् । कर्मवैचित्र्याद् वैचित्र्यमिति चेत्, कृतमस्य प्रेक्षावतः कर्माधिष्ठानेन, तदनधिष्ठानमात्रादेव अचेतनस्यापि कर्मणः प्रवृत्त्यनुपपत्तेस्तत्कार्यशरीरेन्द्रियविषयानुत्पत्तौ दुःखानुत्पत्तेरपि सुकरत्वात् । ”

अर्थात्–‘ यह नियम है कि प्रेक्षावान् की प्रवृत्ति या तो स्वार्थजनित होगी या कारुण्यजनित। परन्तु जगत्सर्जन में इन दोनों में से एक का भी योग सिद्ध नहीं होता । अत एव जगत्सृष्टि किसी प्रेक्षावान् की की हुई सिद्ध नहीं हो सकती । जब भगवान् ने समस्त ईप्सितों को प्राप्त कर लिया है, जब वह पूर्ण कृतकृत्य है, तब उसे जगत्सर्जन से और क्या अभिलषित प्राप्त करना बाकी है ? कुछ भी नहीं । कारुण्य भी जगत्सर्जन का प्रयोजक नहीं हो सकता। क्योंकि सृष्टि के पूर्व जीवों को इन्द्रिय, शरीर और विषय थे ही नहीं और अत एव दुःख का अभाव स्वतः सिद्ध था, तब करुणा किस बात की हो सकती थी ? और यह भी बात है कि करुणा–प्रेरित ईश्वर जीवों को सुखी ही बनावे, विचित्र नहीं । यदि उनका वैचित्र्य कर्म–वैचित्र्य–जनित माना जाय, तब तो प्रेक्षावान् ईश्वर के लिए यही ठीक होगा कि वह कर्म का अधिष्ठाता होना ही छोड़ दे, कर्म–प्रेरण का काम ही न करे, जिसका फल यह होगा कि अचेतन कर्म की प्रवृत्ति ही न होगी, और अत एव शरीर, इन्द्रिय, विषयों की भी उत्पत्ति न होगी, और तब दुःखोत्पत्ति आप ही आप मिट जायगी । ’

और, इस विषय में अधिक पुष्टिकारक आधुनिक विज्ञान भी है, जो कि जगत्सृष्टि को प्राकृत नियम [Law of cause and

effect] पर व्यवस्थित बतला कर ईश्वर-कर्त्तृत्व से स्पष्ट इन्कार करता है।

यह भ्रम न होना चाहिए कि ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता के रूप में न मानने से जैनदर्शन निरीश्वरवादी है। कोई भी, निरीश्वरवादी तब कहा जा सकता है, जब कि वह ईश्वर का स्वीकार न करे। जैनदर्शन में ईश्वर का स्वीकार किस उच्च रूप से और कैसे स्पष्ट रूप से है यह पहले सूचित कर ही दिया है। जैनधर्म में ईश्वर-स्वीकार न होता, तो जैनों के इतने गगनचुम्बी महान् मनोरम देवालय कहाँ से आते ? 'ईश्वर' शब्द भी किसी सृष्टिकर्त्ता चेतन का वाचक नहीं है। सृष्टिकर्त्तृत्व का भाव भी उस शब्द में से नहीं निकलता। 'ईष्टे असौ ईश्वरः' अर्थात् सामर्थ्यवान्। यही 'ईश्वर' शब्द का सीधा अर्थ है। जीवमात्र में अनन्त सामर्थ्य है वह पूर्ण प्रकट हुआ कि वह ईश्वर है। जैनदर्शन में किसी भी आध्यात्मिक अभ्यासी के लिए ईश्वर होने का द्वार खुला बतलाया है। पूर्ण (आध्यात्मिक) स्वातन्त्र्य, पूर्ण ऐश्वर्य, पूर्ण प्रभुत्व किसी एक विशेष आत्मा ही तक सीमित नहीं है। वह स्थिति आत्मा की-जीवमात्र की साहजिक (Natural) स्थिति है। सिर्फ वह कार्मिक आवरणों से आवृत है। वे आवरण हटे कि वह पूर्ण स्वरूप प्रकट ही है। इन आवरणों को हटाना यही एकमात्र, धार्मिक साधन और आध्यात्मिक प्रवृत्ति का उद्देश्य है; यही एकमात्र, मुमुक्षु के प्रयत्न का लक्ष्य-बिंदु है। जो कोई महाभाग इस लक्ष्य की ओर प्रयत्न करे, वह बराबर उसे सिद्ध कर सकता है। इस प्रकार प्रयत्न-बल के पूर्ण उत्कर्ष से जो पूर्ण परमात्म-दशा को पहुँचे हैं वे सब ईश्वर हैं। जैन दर्शन के मत में वे सब निराकार परमात्मा (पूर्ण

सिद्ध, बुद्ध, मुक्त) लाइट में लाइट की तरह परस्पर पूर्ण रूप से मिले हुए हैं। अत एव, इस दृष्टि से उनका 'एक' रूप से व्यवहार किया जाय तो इसमें जैन दर्शन को आपत्ति नहीं है। और इस रीति से वह "एक ईश्वर" के प्रवाद का समन्वय भी कर सकता है। ईश्वर का लक्षण महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगसूत्र में यह बतलाया है कि—

"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः"

[प्रथम पाद का २४ वाँ सूत्र]

अर्थात्—क्लेश, कर्म, विपाक और वासना से विरहित ऐसा विशिष्ट आत्मा ईश्वर है। ईश्वर के इस लक्षण में जगत्कर्तृत्व का समावेश नहीं है। और साम्प्रदायिक मन्तव्य को एक तरफ रख कर यदि इस सूत्र को देखा जाय तो यह ईश्वर के स्वरूपदर्शक लक्षण पर बहुत योग्य प्रकाश डालता है। जैन दर्शन भी यही कहता है कि—परिक्षीणसकलकर्मा ईश्वरः। इसमें सकल कर्मों के अन्दर उक्तसूत्रनिर्दिष्ट 'क्लेश' आदि सब समाविष्ट हैं, जिनका परिपूर्ण क्षय जिसने किया है वह परम आत्मा ईश्वर है। जैन महर्षि उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र में मोक्ष का लक्षण है—'कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः।' पूर्णोज्ज्वल चिदानन्दवीर्यमय स्थिति इसीके (कृत्स्नकर्मक्षय के) परिणामस्वरूप है, इसलिए उसे भी मोक्ष के लक्षणरूप में बताया जा सकता है। मोक्ष का यह लक्षण और ईश्वर का उक्त लक्षण एक ही है। वस्तुतः जैन दर्शन इन दोनों (मोक्ष और ईश्वर) को धर्म—धर्मी बतलाता है। मोक्ष धर्म है और ईश्वर उसका धर्मी। मोक्ष ही ईश्वर का ईश्वरत्व है। मोक्ष [सर्वावरणविलयाविर्भूत

पूर्णोज्ज्वलचिदानन्दवीर्यमयता] के सिवाय और कोई तत्त्व ईश्वर के ईश्वरत्व में नहीं है। ये दोनों समव्याप्तिक हैं, अर्थात् यत्र यत्र मोक्षस्तत्र तत्र ईश्वरत्वम्, एवं यत्र यत्र ईश्वरत्वं तत्र तत्र मोक्षः।

जैन दर्शन का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि प्राणी स्वयं ही अपने सुख–दुःख का स्रष्टा है। अपनी कृति के अनुसार वह अपने को सुखी या दुःखी बनाता है। जैसा उसका आचरण होगा वैसा नतीजा वह पायगा। ईश्वर का रक्त–द्विष्ट होना मानना और वह अनुरक्त हो कर चमत्कार दिखलावे, एवं अपने भक्त का उद्धार करने आवे; और दूसरे पर नाराज होकर शाप दे और उसे कष्ट में डाले--ऐसी बातें जैनदर्शन के सिद्धान्त से बिल्कुल प्रतिकूल हैं। जैनधर्म के शिक्षण में जगत को स्वाश्रयी बनने का उपदेश है। वह प्राणी को अपने पैर पर खड़ा रहने की शिक्षा देता है। उसकी यह स्पष्ट घोषणा है कि अपनी सुगति या दुर्गति, अपनी उन्नति या अवनति अपने ही पर निर्भर है। ईश्वर ऐसा नहीं है, जो प्राणी को उठा कर नरक में डाल दे अथवा स्वर्ग में बिठा दे। जब हम सत्कर्म करेंगे, तो हमारे वे कर्म ही हमें स्वर्ग को ले जायँगे, और हमारे कर्म बुरे होंगे, तो उन्हीं से हमारा नरक होगा। फिर इसमें—

God will take you to the kingdom of heaven, or He will send you to hell.

इस प्रकार ईश्वर को बीच में लाना न युक्त ही है और न उसका तात्त्विक महत्त्व ही इससे सुरक्षित रह सकता है।

इस विषय में—

"न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥"

" नाऽऽदत्ते कस्यचित् पापं न चैवं सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥ "

(भगवद्गीता, पंचम अध्याय)

'गीता' के ये श्लोक भी उपयुक्त होंगे ।

परन्तु इससे ईश्वर-भक्ति अनुपयोगी सिद्ध नहीं होती । ईश्वर परमात्मा हमारे जीवनविकास के लिए परम आदर्शरूप है । महान् गुणसम्पन्न व्यक्ति का सत्संग चारित्र-सुधार में उपयोगी होता है, तो पूर्ण पावित्र्यरूप परमात्मा का चिन्तन-स्मरणरूप सामीप्य जीवनविकास में क्यों सहायभूत न होगा ? परम पवित्र परमात्मा के गुणों का चिन्तन ही उसका सच्चा पूजन है । चिन्तक इस चिन्तन-प्रवाह के बल से अपने मनोमालिन्य को धोने में और अपने जीवन को पवित्र गुणों से विभूषित बनाने में समर्थ होता है । महान् आत्मा के महान् गुणों का चिन्तन चिन्तक के हृदय पर बड़ा असर डालता है और इसी आकर्षण से भावुक चिन्तक गुणों तरफ आकृष्ट होता है । ईश्वरोपास्ति, इस तरह, गुणों की तरफ यदि ले चले, तो यह क्या उसकी उपयोगिता कम है ?

आस्तिक—नास्तिक

आस्तिक-नास्तिक शब्दों का कैसा अर्थ करना यह अपनी अपनी मनोदशा पर अवलंबित रहा है । और आज भी उनके उपयोग में कोई नियन्त्रण नहीं है । बड़ी स्वच्छन्दता से जहाँ तहाँ वे फेंके जाते हैं । किन्तु सामान्यतया शास्त्र, सम्प्रदाय और व्यवहार तो आत्मा, पुण्य-पाप, पुनर्जन्म, मोक्ष और ईश्वर इन तत्त्वों का जो

अस्तित्ववादी है उसको 'आस्तिक,' और जो नास्तित्ववादी है उसको 'नास्तिक' बतला रहे हैं । ये पाँच तत्त्व वस्तुतः ऐसे परस्पर सम्बद्ध हैं कि एक के स्वीकार में सबका स्वीकार आ जाता है, और एक की अवगणना से सबकी अवगणना हो जाती है।

ईश्वरपूजक जैनदर्शन को इसी एक कारण से कि ईश्वर का जगत्-कर्तृत्व उसको सम्मत नहीं है, 'नास्तिक' कहा जाय, तो मूलतः ईश्वर-निषेधक [अनीश्वरवादी] सांख्य वगैरह को क्या कहेंगे ? वेदानुयायी होने से उनका बचाव किया जाय और अवैदिकता पर ही 'नास्तिकता' का कलश चढाया जाय तो यह बात सभ्य संस्कृति के अनुकूल न होगी । एक कहेगा अवैदिक को नास्तिक, दूसरा कहेगा अबौद्ध को नास्तिक, तीसरा कहेगा अवेदान्ती को नास्तिक और चौथा कहेगा नोन्‌जैन को नास्तिक । यों सब अपने अपने सम्प्रदाय के अनुचित मोह के वश होकर एक-दूसरे को नास्तिक कहने लगेंगे तो दुनिया में आस्तिक रहेगा कौन ? भिन्न भिन्न मस्तिष्क में भिन्न भिन्न विचार होना बिल्कुल स्वाभाविक है। विचारभिन्नताओं का समूह ही तो जगत् है। फिर परोक्ष तत्त्वों में तो विचारवैविध्य होगा ही और रहेगा ही। तब ऐसा साम्प्रदायिक आग्रह बिल्कुल ठीक नहीं, जो मतभिन्नतावाले की तरफ अनुदार बनना सिखावे। "हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम् " का जमाना तो अब अस्त हो गया ! परन्तु वह जमाना कहाँ था ? कितने भूमि-कोण में था ? किन लोगों में था ? किन शास्त्र-वचनों से प्रेरित था ? इन सब पर गवेषक दृष्टि फेंकी जाय तो केवल अन्धकार ही नजर आयगा। सिर्फ यही समझा जायगा कि किसी

कट्टर धर्मान्ध व्यक्ति ने द्वेषपूर्ण वृत्ति से इस "स्फुलिंग–कण" को फैंका होगा। फिर असहिष्णु वातावरण के वेग से उसका फैलना शक्य ही था। परन्तु आज संसार में ऐसे आवेशमय आक्षेपों के प्रति लोगों की कितनी अरुचि बढ रही है यह आप देख सकते हैं। अस्तु।

कर्म के योग–वियोग और जीव पर उनका प्रभाव

मोक्ष–मीमांसा में कर्म के योग-वियोग का विचार अत्यन्त अपेक्षित है। आत्मा का कर्म–योग यदि सादि माना जाय तो कर्म–योग के पहले आत्मा अकर्मक [निरावरण] सिद्ध होगा, और अत एव उसे (कर्मयोग के पहले) पूर्णोज्ज्वल, पूर्ण शुद्ध मानना पड़ेगा। परन्तु तब यह आपत्ति आयगी कि पूर्णशुद्ध आत्मा को भी पीछे से कर्म लगे और इससे वह अशुद्ध हुआ, और तब से उसका भवभ्रमण चला। यह आपत्ति ऐसी है कि आत्मा के मोक्ष को अशक्य बना देती है–इससे मोक्ष के सिद्धान्त को जलाञ्जलि देनी पडेगी। क्योंकि पहले जो स्वतः सिद्ध मोक्ष (पूर्ण शुद्ध स्थिति) था, वह स्थिर न रह सका, तो भविष्य में प्रयत्नसाध्य जो मोक्ष होगा, वह भी क्यों स्थिर रह सकेगा? इसलिए प्राचीन भारतीय दर्शनकारों ने जीव और कर्म के संयोग को अनादि माना है। और अत एव जीव का संसार–भ्रमण भी अनादि ही सिद्ध होता है।

ईश्वर के अवतार लेने की बात, जैसे कि अन्यत्र पाई जाती है, जैनदर्शन को सम्मत नहीं है। यह भी जगत्कर्तृत्व–चर्चा का ही विषय है। और उस पर अवलोकन हो चुका है। मुक्त के भवावतार के विरुद्ध में जैनदर्शन का यह कहना है कि:—

" दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः ।
कर्म-बीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुरः ॥ "

[उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र]

अर्थात्-जैसे, बीज आत्यन्तिक दग्ध होने पर अंकुर का प्रादुर्भाव नहीं होता, वैसे, कर्मरूप बीज सर्वथा दग्ध होने पर संसार (भवावतार) रूप अंकुर पैदा नहीं होता।

महाभारत में भी [गौतम्युपाख्यान में] कहा है:—

" तैलक्षयाद् यथा दीपो निर्वाणमधिगच्छति ।
कर्मक्षयात् तथा जन्तुः शरीरं नाधिगच्छति ॥ "

अर्थात्-तेल क्षीण हो जाने पर, जैसे दीपक शान्त हो जाता है, वैसे, कर्म क्षीण हो जाने पर जीव ऐसी शान्त स्थिति को प्राप्त होता है कि पुनः शरीर धारण नहीं करता।

और भी वैदिक विद्वानों ने इस बात पर जोर देते हुए कहा है:—

" क्षीरात् समुद्धृतं त्वाज्यं न पुनः क्षीरतां व्रजेत् ।
पृथक्कृतस्तु कर्मभ्यो नात्मा स्यात् कर्मवान् पुनः ॥ "
" यथा नीता रसेन्द्रेण धातवः शातकुम्भताम् ।
पुनरावृत्तये न स्युस्तद्वदात्मापि योगिनाम् ॥ "

अर्थात्-दूध में से निकाला हुआ घी, जैसे, फिर दूधरूप को प्राप्त नहीं होता, वैसे, कर्मों से पृथग्भूत हुआ जीव पुनः कर्म-युक्त नहीं होता।

जैसे, रसराज से सुवर्ण बनी हुई धातु पुनः पूर्व स्थिति में नहीं आती, वैसे, पूर्ण योगी परम आत्मा, जो समग्र कर्म-बन्धों से मुक्त हुआ है, पुनः कर्मबद्ध नहीं होता।

शरीर-धारण कर्मसम्भूत है, और पूर्णशुद्ध आत्मा को, जो कि पूर्ण अकर्मक है, वह (कर्म) नहीं है, तब उसका शरीर-धारण और भवावतरण कैसे हो सकता है? मोक्ष का अर्थ ही Final emancipation है। ऐसा मोक्ष हुआ, फिर पुनर्बन्धन कैसा?

जैनदर्शन जीवसम्बद्ध अनन्त कर्मों को आठ विभागों में विभक्त करता है:—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय। इन कर्मों के ये नाम ही बता देते हैं कि ये जीव पर क्या परिणाम लाते हैं? ज्ञानावरण का काम ज्ञान को, जो आत्मा का मूल स्वरूप और मुख्य गुण है, आवृत करना है। दर्शनावरण दर्शन [Perception] को आच्छादित करता है। वेदनीय का काम सुख-दुःख-सम्पादन कराना है। मोहनीय मोहसर्जक है। यह सच्ची तत्त्व-प्रतीति नहीं होने देता और इसीके बल से जीव क्रोध, लोभ, मद, माया, राग, द्वेष (Passions) आदि दोषों का शिकार बना हुआ है और बनता है। आयुष्य आयुष्य का नियामक है। नाम शारीरिक संस्था का नियोजक है। गोत्र गोत्र-प्राप्ति का प्रयोजक है। और अन्तराय विघ्न-विधायक है।

केवलज्ञान और जीवन्मुक्ति

इन आठ कर्मों में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार 'घाती' कर्म कहलाते हैं। 'घाती' नाम इस-

लिए दिया गया है कि ये आत्मा के मूल गुण ज्ञान, पावित्र्य, वीर्य आदि का हनन [Obscuring] करनेवाले हैं। आत्मा के वास्तविक आवरणभूत कर्म ये ही हैं। ये ही उसके घातक और दुर्गति-कारक हैं। ये ही उसके उग्र भयंकर बन्धन हैं। भवभ्रमण इन्हीं पर आश्रित है। इन्हीं कर्मों की बदौलत जीव अज्ञान, अपवित्र, मूढ और सन्तप्त रहता है। यही वस्तुतः संसार है। आध्यात्मिक साधना का विकास जब परिपूर्ण स्थिति को प्राप्त होता है तब इनका [चारों 'घाती' कर्मों का] एक साथ समूल उन्मूलन होता है और तत्क्षणात पूर्ण शुद्ध आत्मा का निज स्वरूप 'केवलज्ञान' [Omniscience] प्रकट होता है, और साथ ही अनन्त वीर्य (Infinite power) भी। इस प्रकार केवलज्ञान को प्राप्त आत्मा केवलज्ञानी या केवली कहलाता है। वह शरीरधारी है तब तक साकार, जीवन्मुक्त परमात्मा है। आयुष्यकर्मस्थापित शरीर-सम्बन्ध जबतक उसको रहता है, तबतक वह जगत् को मंगलमय धर्म-सन्देश सुनाता है।

तीर्थंकर और भगवान् महावीर

ऐसे केवलज्ञानियों में एक खास वर्ग 'तीर्थंकर' का है, जो 'तीर्थ' [धर्म-शासन] की योग्य पद्धतिसम्पन्न व्यवस्था करते हैं, जिसके अनुयायिओं की-साधु (Monks), साध्वी (Nuns), श्रावक (Laymen) और श्राविका (Laywomen)-ऐसी वर्ग-व्यवस्था की जाती है, जो चतुर्विध या चतुर्वर्ण संघ-व्यवस्था कही जाती है। इन्हीं (तीर्थंकर) के मुख्य शिष्य, जो 'गणधर' कहलाते हैं, इनकी वाणी के आधार पर शास्त्रप्रणयन करते हैं, जो बारह अंगों में होने से 'द्वादशांगी' नाम से कहे

जाते हैं। इन बारह अंगों में महत्तम अंग 'दृष्टिवाद' सिवाय 'आचार' आदि ग्यारह अंग हाल मौजूद हैं। ऐसे तीर्थंकर वर्तमान युग ['अवसर्पिणी' काल] में चौइस हुए हैं, जिनमें प्रथम तीर्थंकर, ऋषभदेव भगवान् हैं और अन्तिम, महावीर देव। वर्तमान धर्मशासन महावीर देव का है और विद्यमान 'अंग'-श्रुत उनके गणधर 'सुधर्मा' का। अंग-श्रुत के अलावा और भी 'उपांग' आदि आगम-शास्त्र विद्यमान हैं, जो, 'सुधर्मा' गणधर की शिष्य-परम्परा में के महान् श्रुतधर ऋषियों के बनाए हुए हैं।

भगवान् महावीर की जीवन-रेखा सबसे प्राचीन सूत्र 'आचार' में संक्षिप्त रूप से अंकित है। और 'भगवती' सूत्र में उनके जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली कई बातों का वर्णन है। 'आवश्यक-चूर्णि' में उसका अधिक विस्तार है। और आचार्य हेमचन्द्र ने 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र' के दशम पर्व में उसको बड़े विस्तार से संगृहीत किया है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी महावीर के जीवन और तत्संगत अन्य विषयों पर बहुत परीक्षाप्रधान आलेखन किया है। भावनगर (काठियावाड) के मेजिस्ट्रेट, पारसी विद्वान् ए. जे. सुनावाला, बी. ए., एलएल. बी. महाशय का एक अंग्रेजी पेम्फलेट

MAHĀVIRA-THE GREAT HERO

जो, केम्ब्रीज युनिवर्सिटि प्रेस में मुद्रित हुआ है, भगवान् महावीर के लिए निम्नप्रकार लिखता है:—

It is now admitted by all that Vardhamāna or Nirgrantha Gnātaputra, best known as Vira or Mahāvira, regarded by the Jainas as the twenty-

fourth and last Tirthankara was a historical personage and a contemporary of Shākya Muni, the Buddha. He was born in the year 599 B. C., or towards the end of the Dusamā Susamā period, the fourth Ara, as the Jainas reckon time, on the thirteenth day of the bright half of Chaitra. He is said to have perfected his vow Kalpa after Kalpa. Many a hundred incarnations preceded that final incarnation in which the highest knowledge and intuition, called Kevala-Jnāna, was attained. Step by step he climbed up the long ladder of existence; life after life of self-abnegation and devotion led him from earthly manhood to divine humanity, from divine humanity to the position of a Jina or a Tirthankara. Immeasurable ages of innumerable lives lay behind him ere he was born in the royal palace at Kundapura or Kundagarāma-a Kshatriya suburb of Vaishāli, the capital of Videha or Tirhut-born for his last birth upon this planet, born to reach the perfet illumination, born to become a mighty teacher and instructor of myriads and myriads of the human race.

The Jainas, both Shvetāmbaras and Digambaras, state that he was the son of King Siddhārtha of the celebrated race of Ikshvāku and of the Kāshyapa Gotra, and that his mother Trishalā was sister to King Chetaka of Vaishāli, and was also related to King Bimbisāra of Magadha then the most powerful state in India. The name given by

his parents was Vardhamāna, as causing increase of riches, peace and prosperity, but Indra or Shakra-the chief of the gods-gave him also the appellation of Mahāvira as significant of his power and supremacy over gods and men.

For nearly thirty years Mahāvira seems to have lived in the bosom of his family. According to the Shvetāmbara tradition he was prevailed upon by his parents to marry Yashodā, daughter of the prince Samaravira. By her he had a daughter, Anojjā or Priyadarshanā, who was married to a noble of the name of Jamāli-one of the Saint's pupils and founder of a new sect-and who in her turn had a daughter called Sheshavati or Yashovati Mahāvira's parents and with them probably their whole clan of Nāya Kshatriyas, were followers of the tenets of Pārshvanātha-the twenty-third Tirthankara-who is said to have preceded Mahāvira by 250 years. They died when Mahāvira was twenty-eight years old, and the government of the country naturally devolved on his elder brother Nandivardhana. Mahāvira now felt free to become an ascetic. After two years of abstinence and self-denial at home, he resolved to fulfil his vow-the vow that he had taken, long lives before, to renounce all, to reach illumination, and to become a saviour of the world. He took the permission of his brother and the royal councillors, gave away his wealth in charity, and then, surrounded by crowds of

people, proceeded towards the Shandavana park outside the Kshatriya suburb of Vaisāli. There in the centre of the park, under the shade of the evergreen Ashoka tree, he quietly descended from his state palanquin, took off his ornaments, stripped off his princely garments, plucked out his hair in five handfuls, paid obeisance to all liberated spirits, and vowing to do no sinful act, entered upon that ascetic life, the austerities of which were to dry up all the founts of Karma and free him from the sorrowful cycle of birth and rebirth.

This great initiation, all sects agree, took place when Mahāvira was thirty years of age, some time between 570 and 569 B. C., on the tenth day of the latter (?) half of Mārgashirsha or Māga-sara. For twelve years he led a life of severe austerities, observing frequent fasts of several months' duration, practising penances greater than any other practised, always meditating, always striving to realize himself, always sinless and circumspect in thought, in word and in deed. For full twelve years the homeless ascetic wandered from place to place, never staying for longer than a single night in a village or for more than five nights in a town, and only resting during the four months of the rainy season, always bearing with perfect patience and equanimity all kinds of hardship and cruel ill-treatment at the hands of his enemies

and the savage tribes of Vajrabhumi, Suddhibhumi and Lāt or Lār, the countries apparently of the Gonds. As he was thus wandering on his way, the time approached when perfect illumination was to be found. For, in the thirteenth year after his renunciation of the world and initiation as an ascetic, on the tenth day of the bright half of Vaishākha, as he was seated under the shade of a sāl tree outside Jrimbhakagrama, on the north bank of the river Rijupālikā-a place not very far from the Pārshvanātha hills-as he sat there beneath the sacred tree, there dawned on him the light which he had been born into the world to discover; there came to him, in that silent hour of deep meditation, the mighty awakening which made him the enlightened, the omniscient, the all-knowing, which told him of sorrow, of the cause of sorrow, of the cure of sorrow, and of the path which leads beyond it. The bonds of Karma-the enemies to enlightenment, wisdom and salvation-were snapped like an old rope; and the Kevala Jnāna-the only knowledge-knowledge which is full and complete, unimpeded and unobstructed, infinite and supreme-became his own.

The last thirty years of his life Mahāvira passed in teaching his religious system and organizing his order of ascetics. The scene of his labours is mostly along the Ganges, in the modern districts of Bihār and Allahabad. In the towns

which lay in these parts he spent almost all the rainy seasons during his spiritual career, though at times he extended his travels as far west and north as Shrāvasti and the foot of the Himālayas. Men and women of all castes and classes from the lands east of the Middle Country crowded into his order, and from these grew the four representatives of the Jaina community: Sādhus, Sādhvis, Srāvakas and Srāvikās-monks, nuns, laymen and laywomen. Mahāvira's name and fame greatly perturbed the Brāhmans of Magadha, and several of their most eminent teachers undertook to refute his doctrines. Instead of effecting their purpose, however, they became converts, and constituted his Ganadharas-Chief disciples and teachers of his doctrines. In thirty years Mahāvira is said to have converted to Jainism Magadha, Bihār, Prayāga, Kaushāmbi, Champāpuri and many other powerful states in North India. The Jainas, both Shvetāmbaras and Digambaras, have recorded the names of the places where he stayed during each rainy season. They also give the names of the different rulers he visited. They tell us how Chetaka, king of Videha, became a patron of his order; how Kunika, king of Anga, gave him the most cordial welcome; how Shatānika, king of Kausāmbi, listened with deep interest to his discourses; how Shrenika, king of Magadha, asked him thousands of questions conce-

rning the faith, and, all of them being satisfactorily answered, became one of the strongest champions of the religion of the Jina.

We now come to the closing scene of Mahāvira's life. His last rainy season was spent in Pāpā- the modern Pāvāpuri-a small town in the Patna district, still held sacred by the Jainas. Hastipāla, the ruler of the place, was a great patron of Mahāvira, and, according to the Kalpa-Sutra, it was in the office of his scribe that the venerable ascetic died. He attained Nirvāna, cut asunder the ties of birth, old age and death, became a Siddha, a Mukta, freed from all misery, Freed from all pains.

This is said to have occurred in 527 B. C., some 605 years before the commencement of the Shaka era, and 470 years before King Vikramāditya. Mahāvira's system of teaching, as it has come down to us, is full of metaphysics and philosophy; but apart from these, its main purpose, summed up in a few words, is to free the soul from its mundane fetters by means of the three jewels: Samyak Jnāna, Samyak Darshana, Samyak Chāritra—Right Knowledge, Right Faith, Right Conduct. His great message to mankind is that birth is nothing, caste is nothing, but Karma is everything, and on the destruction of this Karma depends final emancipation.

जैन धर्म की प्राचीनता

अब भी जिन्हें यह भ्रम हो कि भगवान् महावीर जैन धर्म के उत्पादक हैं, उन्हें अपना यह भ्रम दूर करना चाहिए। जैन धर्म भगवान् महावीर से बहुत पहले का है। भगवान् महावीर तो उनके पुरोगामी तीर्थंकरों की तरह तीर्थंकर रूप से उसके महान् उद्द्योतक-महान् विकासक–महान् प्रचारक थे। भगवान् महावीर के पहले भगवान् पार्श्वनाथ हुए हैं और वे भी ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। पाश्चात्य विद्वान् डो. गेरिनोट कहते हैं:—

There can no longer be any doubt that Pārshva was a historical personage. According to the Jaina tradition, he must have lived a hundred years and died 250 years before Mahāvira. His period of activity, therefore corresponds to the 8th century B. C.

The parents of Mahāvira were followers of the religion of Pārshvanātha. × × × The age, we live in, there have appeared 24 Prophets of Jainism. They are ordinarily called Tirthankaras. With the 23rd Pārshvanātha we enter into the region of History and reality."

[Introduction to his Essay on Jain Bibliography.]

अर्थात्–यह निःशंक है कि पार्श्वनाथ ऐतिहासिक महापुरुष थे। जैनिझम के अनुसार वे शतायु थे और महावीर* के निर्वाण से २५०

* महावीर की आयु ७२ वर्ष की थी।

वर्ष पहले निर्वाण को प्राप्त हुए थे। इस प्रकार उनका जीवन-काल इ. सन् पूर्व की आठवीं शताब्दी से मिलता है।

महावीर के माता-पिता पार्श्वनाथ के धर्म के अनुयायी थे। वर्तमान युग में [इस 'अवसर्पिणी' काल में] जैनों में २४ तीर्थंकर हुए हैं। तेवीसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ से हम यथार्थ, ऐतिहासिक प्रदेश में प्रवेश करते हैं।

जगत् के धार्मिक इतिहास तरफ दृष्टि करने से मालूम होता है कि, हज़रत मूसा ने याहूदी धर्म चलाया, चीन देश के कन्फ्युसीयस ने कन्फ्युसीयस धर्म चलाया, महात्मा क्राइस्ट ने क्रिश्चियन धर्म चलाया, हज़रत महम्मद ने मोहमडन धर्म चलाया, महात्मा बुद्ध ने बौद्ध धर्म को स्थापित किया और महान् जरथोस्त ने पारसी धर्म का स्थापन किया; परन्तु भगवान् महावीर इन सबके पहले यानी आज से २४६३ वर्ष पहले हुए हैं, जिन्होंने जैन धर्म का, जो कि इनके पहले बहुत प्राचीन समय से चला आ रहा था, पुनरुद्धार और प्रचार किया। इस पर से मालूम हो सकता है कि प्राचीन धर्मों में वैदिक धर्म और जैन धर्म ही गिने जा सकते हैं।

'महावग्ग' और 'महानिव्वानसुत्त' वगैरह बौद्ध धर्म-ग्रन्थों (पिटक ग्रन्थों) में जैन धर्म और भगवान् महावीर से सम्बन्ध रखनेवाली कुछ बातें उल्लिखित हैं। श्रीमद् भागवत में [पंचम स्कन्ध, तृतीय अध्याय में] जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव का जिक्र है। 'महाभारत' और 'रामायण' में जैनधर्मसम्बन्धी उल्लेख हैं। और सबसे अधिक महत्त्व की बात यह है कि वेदों में भी जैनधर्मसम्मत तीर्थंकर देवों के अभिधान

उपलब्ध होते हैं। यह क्या सूचित करता है? यही कि जैन धर्म वेदरचनाकाल के पहले भी था। ब्रह्मसूत्र, जो वेदव्यासनिर्मित कहा जाता है, उसमें के " नैकस्मिन्नसम्भवात " वगैरह सूत्रों को महान् भाष्यकार महर्षि श्री शंकराचार्यजी ने जैनदर्शनसम्मत 'अनेकान्त-वाद' आदि सिद्धान्तों के खंडन में योजित कर के अपने भाष्य में उन सिद्धान्तों के खंडन का प्रयत्न किया है। वास्तविक खंडन उनसे हो सका है या नहीं यह तो आगे मालूम हो जायगा, परन्तु इससे इतना तो अवश्य सिद्ध होता है कि आदि शंकराचार्यजी के जमाने में भी, नहीं, नहीं, उनके पूर्व वेदव्यास के काल में भी जैनधर्म का प्रचार था।

इन सब पर से, सुज्ञ पाठकों को, जैनधर्म कितना प्राचीन है इस पर विचार करने की दिशा बहुत सरल हो जायगी। इस हालत में भी यदि कोई जैन धर्म को बौद्धधर्मसम्भूत बताने का साहस करे तो वह कितना उपहासास्पद होगा? जरूर एक समय था, जब कि बड़े बड़े विद्वानों में भी जैनधर्मविषयक अनभिज्ञता फैली हुई थी, जिसके परिणामस्वरूप, जैन धर्म को किसीने बौद्ध धर्म की शाखा और किसी ने वैदिक धर्म की शाखा कह डाला था और किसी ने उसे महावीर देव से समुत्पादित बतला दिया था। परन्तु जैन साहित्य ज्यों ज्यों प्रचार में आने लगा और शोधक विद्वानों का तत्सम्बन्धी अभ्यास भी ज्यों ज्यों बढ़ने लगा, त्यों त्यों उनके पूर्वोक्त भ्रम आप ही आप दूर होते गए। और अब तो इन भ्रमों के विदारण में बड़े बड़े पौर्वात्य एवं पाश्चात्य विद्वानों के आलेखन आम तौर पर जाहिर हैं। इस ऐतिहासिक संशोधन के महान् कार्य में जिन पाश्चात्य विद्वानों के यशस्वी नाम उल्लेख-योग्य हैं, उनमें डॉ. जेकोबी, डॉ. पेटोल्ड, डॉ. स्टीनकोनो, डॉ. हेलमाउथ, डॉ. हर्टल,

डॉ. सीलवन लेवी वगैरह पुरोगामी व्यक्तियाँ हैं। स्वर्गस्थ जेकोबी साहब जगत्सम्मुख यह स्पष्ट घोषणा कर गए हैं कि—

"In conclusion let me assert my conviction that Jainism is an original system, quite distinct and independent from all others, and that, therefore it is of great importance for the study of Philosophical thought and religious life in ancient India."

[Read in the Congress of the History of religion]

अर्थात्–उपसंहार में मुझे अपना निश्चय जाहिर करने दें कि जैन धर्म एक मूल धर्म [मौलिक व्यवस्था] है, और अन्य सबसे बिल्कुल भिन्न और स्वतन्त्र है। और इसलिए, प्राचीन भारतवर्ष के दार्शनिक विचार और धार्मिक जीवन के अध्ययन के लिए वह बहुत उपयुक्त है।

जेकोबी साहब के इस उद्गार के अनुसन्धान में, अब यहाँ यह देखना प्रासंगिक है कि जैन धर्म में वह कौन सी बात है जो उसको दार्शनिक विचार के लिए और धार्मिक जीवन के अध्ययन के लिए महान् उपयोगी बतला रही है?

दार्शनिक विचार करने के लिए न्यायदर्शक मार्ग है जैन दर्शन का दार्शनिक सिद्धान्त 'स्याद्वाद'; और धार्मिकता की मीमांसा का केन्द्र है उसका आचार–सिद्धान्त अहिंसा। अर्थात् विचारशोधक सिद्धान्त है 'स्याद्वाद' और आचारशोधक, अहिंसा। अब इनमें पहले स्याद्वाद को देखें।

स्याद्वाद

स्याद्वाद का दूसरा नाम अनेकान्तवाद है। अनेकान्त के अन्दर जो 'अन्त' शब्द पड़ा है उसका अर्थ है—दृष्टि। अनेकान्त यानी अनेक—दृष्टि, अर्थात् अनेकधर्मविषयक दृष्टि। वस्तु का एकांगी दृष्टि से नहीं, किन्तु अनेकांगी दृष्टि से आलोकन करना, निरूपण करना यह अनेकान्तवाद है। यही भाव 'स्याद्वाद' के अन्तर्गत 'स्यात्' (अव्यय) पद का है।

वस्तु के एक अंग या अंश का विचार अपर्याप्त होगा। उसके अनेक अंगों पर दृष्टि डाली जाय, तभी उसका बराबर बोध होगा। अमुक विषय के लिए एक मनुष्य जो कह रहा है, उससे भिन्न, दूसरा मनुष्य कह रहा है, ऐसी हालत में उन दोनों के दृष्टि—बिन्दुओं को समझने की जरूरत है। दोनों के दृष्टि—बिन्दु भिन्न होने पर भी संगत हो सकते हैं या नहीं ? और तब दोनों के कथन भिन्न होने पर भी समन्वित हो सकते हैं या नहीं ? यह सोचने की जरूरत है। इस तरह की जो परामर्श—कला, इसीका नाम है स्याद्वाद। एक ने दूध को तबियत के लिए हानिकारक बतलाया और दूसरे ने उसको लाभदायक कहा। अब इन दोनों के दृष्टि—बिन्दुओं को न समझा जाय, तो ये दोनों एक—दूसरे को अपने अपने कथन से विरुद्धवादी मानेंगे । और फिर इसके परिणामस्वरूप, उन दोनों में विरोध बढ़ेगा । परन्तु जब एक—दूसरे की दृष्टि को समझ लिया जाय कि दूध को हानिकारक बतानेवाला शरीर की किस रुग्ण अवस्था के लिए उसको हानिकारक बतलाता है, और लाभकारक कहनेवाला किस दशा में लाभकारक कहता है, तो उन दो कथनों की बराबर संगति हो जायगी। एक चीज एक

में उपयोगी होती है, तो दूसरी अवस्था में अनुपयोगी अथवा हानिकारक होती है; तो इस तरह की भिन्न भिन्न अपेक्षा से एक ही चीज को उपयोगी और अनुपयोगी कहना क्या असंगत होगा ? किसी ने अन्नदान को श्रेष्ठ बतलाया, तो दूसरे ने विद्यादान को, तीसरे ने जलदान को और चौथे ने औषधदान को; परन्तु इन भिन्न भिन्न मतों को भिन्न भिन्न अपेक्षा से विचारा जाय तो इन सब की संगति हो सकती है। कौनसा दान बडा ? इसका एक ही जवाब है कि जिस समय जिसकी जरूरत। अन्न की आवश्यकता में अन्नदान बड़ा, और विद्या के मौके पर विद्यादान बड़ा। तृषार्त्त के लिए जल-दान बड़ा और रोगार्त्त के लिए औषधदान।

इस प्रकार भिन्न भिन्न अपेक्षादृष्टिओं से वस्तु का या भिन्न भिन्न मतों का अवलोकन करना स्याद्वाद सिखाता है। इस 'चावी' का उपयोग करना मनुष्य यदि सीखे—क्या राजकारण में और क्या सामाजिक प्रकरण में, क्या धार्मिक विषय में और क्या व्यवहार में, तो उसका वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और धार्मिक जीवन बहुत सरल हो जायगा। व्यर्थ के कई कलहों में यह जगत् डूबा है और दुःखी हो रहा है। इस अनेकान्तवाहिनी मीमांसा से कई कलहों का अन्त आ सकता है और मनुष्य-जाति में परस्पर सौमनस्य स्थापित हो सकता है। व्यवहार में मनुष्य स्वार्थवश हो कर हठ, दुराग्रह और अनीति करे, यह देखते हैं, परन्तु धार्मिक और दार्शनिक प्रकरण में इस 'अनेकान्तदृष्टि' की महान् चावी से जब मत-भेदों की संगति की जा सकती है, फिर क्यों वह हठ को पोष रहा है और विरोधवृत्ति को बढ़ा रहा है ? द्वैताद्वैत का झगड़ा काहे को ? जड़ और चेतन इस तत्त्व-द्वैत से द्वैतवाद है; और आत्म-भावना के लिए अद्वैतवाद है। क्योंकि जड़मोह से उपरत हो कर

एक शुद्ध आत्म-तत्त्व में निरत होना यही उसका आदर्श है। इस महान् और उच्च आदर्श की दृष्टि से वह कितना उपयुक्त है यह स्पष्ट ही है। वैदिक दार्शनिकों ने फरमाया है कि-" सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं जगत् "-जगत् न केवल सद्रूप है, और न केवल असद्रूप है, किन्तु सदसद्-उभयरूप है, अत एव वह अनिर्वचनीय है। यह अनेकान्तदर्शन नहीं तो और क्या है? स्व-भाव से सत् और पर-भाव से असत्, अथवा व्यक्तिरूप से असत् और शक्तिरूप से सत् किसको नहीं मानना पड़ता? मूल द्रव्य मृत्तिका के कई पात्र बनते हैं। एक पात्र फूट जाता है और उसमें से दूसरा बनता है, तब भी मूल द्रव्य (मृत्तिका) ज्यों का त्यों ही है। यह क्या बतलाता है? यही कि मूल द्रव्य (मृत्तिका) की अपेक्षा से नित्यता और [नाना आकार के पात्र फूटते हैं और बनते हैं-इस] आकार-परिणाम-वैविध्य की अपेक्षा अनित्यता। अतः इस नित्यानित्यवाद को कौन मंजूर नहीं करेगा? क्या नैयायिकों और वैशेषिकों ने परमाणुरूप पृथ्वी को नित्य और कार्यरूप पृथ्वी को अनित्य नहीं माना है? क्या यह स्याद्वाद का आश्रयण नहीं? आधुनिक वैज्ञानिकों का भी यही मत है कि-" मूलप्रकृत्या यदिहास्ति नित्यं तदेव पर्यायवशादनित्यम्× "। इस तरह एकात्मवाद--नानात्मवाद, कर्तृत्ववाद-अकर्तृत्ववाद, ईश्वर-सम्बन्धी साकारवाद—निराकारवाद, आत्मसम्बन्धी देहपरिमाणवाद-वैभववाद, और क्षणिकवाद वगैरह जितने दार्शनिक चर्चा के धाम हैं सबका समन्वय यह स्याद्वाद-दर्शन* कर देगा, चाहिए सिर्फ मिलन की भावना।

× लेखक की " अनेकान्त-विभूति " में का श्लोकार्ध।

* देखो! इसी लेखक की विरचित 'अनेकान्त-विभूति' (द्वात्रिंशिका)।

श्रीमान् शंकराचार्यजी महाराज ने " नैकस्मिन्नसम्भवात् " इस ब्रह्मसूत्र से यह समझ कर कि एक में विरुद्ध धर्मों का होना असम्भव है, अपने भाष्य में स्याद्वाद का खंडन करने का प्रयत्न किया है। परन्तु ऊपर के विवेचन से सुज्ञ पाठकों को विदित हो गया होगा कि स्याद्वाद एक ऐसी पोलिसी है, ऐसी विचार-शोधक और वस्तुव्यवस्थापक दृष्टि है कि उस जीवनव्यापी एवं जीवनोपयोगी नैसर्गिक सिद्धान्त का विरोध हो ही नहीं सकता है। वह हमें, वस्तु का अवलोकन कैसे करना यह सिखाता है। इसके फलस्वरूप, हमारी दृष्टि विशाल बनती है और मनोवृत्ति उदार। यह वह सिद्धान्त है, जो भिन्न भिन्न दार्शनिकों को, उनके अन्योन्य विरुद्ध दीखते हुए मतों का समन्वय कर, एक केन्द्र पर लाने का सामर्थ्य रखता है। इस नीति की बदौलत, मनुष्य का मतावेशजनित मानस कालुष्य धुल जाता है और जीवन–मंगल का साधनभूत समभाव उसे प्राप्त होता है। यह नीति हमारी, समग्र प्रजा की जीवन–शान्ति के लिए कितनी उपयोगी है यह विचारक सज्जन बहुत आसानी से समझ सकते हैं। जरा सोचने की बात है कि सांख्य ने सत्त्व, रजस् और तमस् इन विरुद्ध गुणों को प्रकृति में कैसे संगत किया? भट्ट और मुरारि ने वस्तु को जाति--व्यक्ति--उभयात्मक क्यों मंजूर रक्खा? महर्षि पतञ्जलिने [योगसूत्र के तीसरे पाद में×] वस्तुगत धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्था-परिणाम का व्याख्यान कर के अनेकान्तवाद का आश्रयण किया है या नहीं? ब्रह्म को व्यवहार से बद्ध और परमार्थ से अबद्ध बतानेवाले वेदान्ती को स्याद्वाद का अनुयायी होना पडा या नहीं? सीधी बात है कि:—

× एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥१३॥

कस्यचिद् गुणकृद् दुग्धं दोषकारि च कस्यचित् ।
एकस्यापि दशाभेदे, स्याद्वादोऽयं प्रकाशते ॥
उपयोगी स एवार्थोऽनुपयोगी च कर्हिचित् ।
अवस्थाभेदमाश्रित्य, स्याद्वादोऽयं प्रकाशते ॥
एकमेव भवेद् वस्तु हानिकृल्लाभकारि च ।
अवस्थाभेदमाश्रित्य, स्याद्वादोऽयं प्रकाशते ॥

[एतल्लेखक–विरचित]

एक वस्तु में विरुद्ध धर्मों का अभ्युपगम यदि एक ही दृष्टि-बिन्दु (Stand-point) से किया जाय, तब तो जरूर वह दूषित कहा जायगा। परन्तु यदि जुदा जुदा दृष्टि--बिन्दु से भिन्न भिन्न तत्त्व एक वस्तु में घटित हो सकते हो, तो उन्हें क्यों न कबूल रक्खा जाय ? पुत्र जिसको पिता समझता है उसी व्यक्ति को उसका बाप पुत्र समझता है। यह क्यों घटित होता है ? बात यह है कि एक ही व्यक्ति की इन दोनों बातों तरफ अपेक्षा एक नहीं है, किन्तु दोनों तरफ की अपेक्षाएँ अलग अलग हैं । यही कारण है कि उन्हें घटित माना जाता है । इसी तरह, एक ही वस्तु में सत् और असत्, एवं नित्य और अनित्य एक ही अपेक्षा से यदि माने जाते, तब तो जरूर वह मन्तव्य दूषित ठहरता । परन्तु जब सत् मानना एक दृष्टि से है और असत् मानना दूसरी दृष्टि से है, एवं नित्य मानना एक अपेक्षा से है और अनित्य मानना दूसरी अपेक्षा से है, तब इसमें क्या आपत्ति है ? वस्तु अनेकप्रदेशात्मक है, यानी उसकी अनेक स्थितियाँ हैं, अतः उसके निरूपण में एकांगी अपेक्षादृष्टि पर्याप्त नहीं होगी, भिन्न भिन्न दृष्टिओं से ही उसका ठीक ठीक निरूपण शक्य है । तब इस प्रकार, विविध–अपेक्षा–द्वारा वस्तु के विशाल निरूपण की--वस्तु के

विशाल अवलोकन की अवगणना करना क्या कोई सहृदय पसन्द करेगा ? स्याद्वाद की अवगणना करना सचमुच इसी विशाल अवलोकन की अवगणना करना है। इस बात को, गुजरात के सुप्रसिद्ध विद्वान् आनन्दशंकर बापुभाई ध्रुव यदा तदा अपने व्याख्यानों में बड़ी स्पष्टता से समझाया करते हैं। उन्होंने अपने एक व्याख्यान में, महर्षि श्री शंकराचार्यजी के स्याद्वादविरुद्ध आक्षेप के सम्बन्ध में यह स्पष्ट कहा था कि, वह उस सिद्धान्त के यथार्थ और वास्तविक रहस्य से संगति नहीं रखता। काशी के महामहोपाध्याय श्री राममिश्रशास्त्री ने अपने एक व्याख्यान में, स्याद्वाद को एक महान् 'किला' की उपमा दे कर उसकी महान् उपयोगिता का समर्थन किया था। गुड़ कफकारी है और सुंठ पित्तावह; इसी तरह एकांगी दृष्टि भी दूषित है। परन्तु गुड़ और सुंठ का सम्मिश्रण किया जाय, तब उसमें कोई दोष नहीं रहता; वही बात अनेकांग-दृष्टि के लिए भी है। अस्तु।

अब अहिंसा की तरफ जरा दृष्टिपात कर लूँ।

अहिंसा

यह तो कोई भी तटस्थ विद्वान् स्वीकार करेगा कि अहिंसा तत्त्व का विकास सबसे अधिक जैनदर्शन में हुआ है। जैनदर्शन की अहिंसा मनुष्य, पशु-पक्षी और कीड़े-मकोड़े तक ही सीमित नहीं है, परन्तु उसका क्षेत्र-विस्तार और अधिक आगे बढ़ा हुआ है। जैन तत्त्वज्ञान इतना आगे बढ़ा हुआ है कि वह पृथ्वी, जल और वनस्पति को भी, एवं अग्नि तथा वायु को भी जीवमय मानता है। तमाम आकाश सुसूक्ष्म जीवों से भरा है ऐसा जैनदर्शन का मन्तव्य है,

जिसको आधुनिक वैज्ञानिक भी मानते हैं। आधुनिक वैज्ञानिकों को एक 'थेकूसस' नामक सूक्ष्म प्राणी की शोध लगी है, जो एक सुई के अग्र भाग पर एक लाख तक सरलतापूर्वक बैठ सकते हैं। सुप्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बोझ ने वनस्पति के पौधों पर प्रयोग कर के यह प्रमाणित किया है कि उनमें भी संज्ञाएँ--वेदनाएँ (Feelings) हैं। ये बातें आज वैज्ञानिक प्रयोगों से प्रमाणित की जाती हैं, परन्तु जैनदर्शन ने इन्हें हजारों वर्ष पहले जाहिर कर दिया है—उस वक्त—जब कि यन्त्र—साधन का आविर्भाव न था; ऐसे युग में तीर्थंकरों ने अपने आत्मज्ञान—बल से इन बातों को प्रकाश में रक्खा था। इटालियन विद्वान् डॉ. एल. पी. टेसिटोरी ने जैनदर्शन को बहुत ऊँची पंक्ति पर रखते हुए यह कहा था कि—"इसके [जैनदर्शन के] मुख्य तत्त्व विज्ञानशास्त्र के आधार पर रचे हुए हैं। और ज्यों ज्यों पदार्थ-विज्ञान आगे बढ़ता जाता है, जैनधर्म के सिद्धान्तों को सिद्ध करता है"।

अहिंसा का अर्थ हिंसा न करना ऐसा केवल निषेधपर (Negative) नहीं है, किन्तु उसे विधायक अर्थ [Positive form] में भी समझना चाहिए। इस अर्थ में अहिंसा का अर्थ सद्भाव, सेवा, दया, सद्वृत्ति, अनुकम्पा, उपकार होता है—

Ahimsā in its positive form means the largest love, the highest sympathy, the greatest charity.

यह समझना मुश्किल न होगा कि यह महान् तत्त्व मनुष्यजाति में जितना ही अधिक विकसित होता है उतना ही उसमें पारस्परिक सद्भाव बढ़ता है। यह एक ऐसा बलवान् सिद्धान्त है, जो जगत्

की मनुष्यजाति को एक प्रेमसूत्र में संगठित करने का सामर्थ्य रखता है। यही विश्वशान्ति का सूत्रधार है। जहाँ इसका अनादर है उस देश की प्रजा को सुख कहाँ? शान्ति कहाँ? वहाँ तो 'मात्स्य' न्याय अपना अड्डा जमाता है और अशान्ति के भीषण वातावरण में प्रजा तोबा पुकारती है।

मुझे यहाँ सूचित करना चाहिए कि अहिंसा का अर्थ कोई कायरता या निर्बलता न करे। जैसे हिंसा के साथ अहिंसा का विरोध है, वैसे, कायरता के साथ भी अहिंसा का विरोध है। अहिंसा कायरों का धर्म नहीं है, वह बहादूर का पवित्र अथ च अमोघ शस्त्र है। दुश्मन या अनिष्टकारी के प्रति भी अपने चित्त में क्रोध की उत्तेजना न होने देना और सज्ञान (wise) वृत्ति से अपने मन को काबू में, शान्ति (equanimity) में रखना, और, विशेषता में, उसके हितचिन्तक और शुभेच्छक बनना वह साधारण बात नहीं है। सारा संसार–क्या कायर और क्या वीर–अपने विरोधी के प्रति एकदम ही उत्तेजित और अशान्त हो उठता है। यह तो मानस चापल की स्वाभाविक बात है। यह जगत्भर का प्रचलित वातावरण है। इस सामान्य जगत्प्रवाह के विरुद्ध जो अन्तःकरण अपने विरोधी के प्रति भी उदार बने–उसके लिए भी शुभचिन्तक बने, वह कितना उच्च, सात्त्विक, धीर और ज्ञानी होना चाहिए यह सुज्ञ पाठक सोच सकते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिक बल किधर अपेक्षित है--हिंसावृत्ति में या अहिंसावृत्ति में? अच्छा, अब इसका लक्षण भी देखना चाहिए। जैन महर्षि उमास्वाति ने अपने 'तत्त्वार्थसूत्र' में हिंसा का लक्षण बतलाया है:—

"प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा।"

अर्थात्—प्रमाद से (प्रमाद में केवल असावधानी ही नहीं ली जाती; क्रोध, लोभ, वैर–विरोध वगैरह (Passions) का भी समावेश है) प्राणवियोग करना हिंसा है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि प्राणवियोग ही हिंसा है। दूसरे को शारीरिक या मानसिक क्लेश पहुँचाना भी हिंसा है। इतना ही नहीं, मनसा परापकार का विचारमात्र करना यह भी हिंसा में शामिल है। क्योंकि यह सब प्रमाद--सम्भूत है। अत एव विषय--स्पष्टीकरण के लिए धर्माचार्यों ने हिंसा को मानसिक, वाचिक और शारीरिक इस प्रकार त्रिविध रूप से वर्णित किया है। मतलब कि प्राण-व्यपरोपण या प्राणसंक्लेश की क्रिया हो या न हो, जहाँ प्रमत्तवृत्ति है वहाँ हिंसा है; और इसके विपरीत, जहाँ प्रमत्त योग नहीं है और भली वृत्ति है, जैसे कि डॉक्टर का ओपरेशन, वहाँ, तात्कालिक अधिक कष्टप्रद स्थिति होते हुए भी हिंसा नहीं है।

यह बराबर है कि अहिंसा का जितना ऊँचा आदर्श है उतना उसका पूर्णरूप से पालन करना शक्य नहीं। महान् सन्त के लिए भले ही वह शक्य हो, परन्तु सामान्य जगत् के लिए शक्य नहीं। इसीलिए जैन शास्त्रने अहिंसा आदि को महाव्रत और अणुव्रत में विभक्त कर के महाव्रत को साधु के और अणुव्रत को गृहस्थ के अधिकार में रक्खा है। महाव्रतों की महत्ता के सम्बन्ध में महर्षि पतञ्जलिने भी अपने योगसूत्र में [द्वितीय पाद में] फरमाया है कि:—

" जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः
सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ ३१ ॥ "

अर्थात्—जाति, देश, काल और समय से अनियन्त्रित ऐसे सार्वभौम अहिंसा आदि व्रत महाव्रत हैं।

यह सर्वविरत सन्तों के लिए है। गृहस्थों के लिए जैनशास्त्र ने अहिंसा की सीमा इस तरह अंकित की है कि—'निरपराधी स्थूल ['त्रस '—Mobile] जीवों को जानबुझ कर न मारूँ '। अब वाचक महाशय सोच सकते हैं कि इतनी संकुचित अहिंसा का अनुसरण गृहस्थाश्रम के व्यवहार में क्या कोई अडचन डाल सकता है? अहिंसाविषयक इस संकोच को विचारपूर्वक देखा जाय तो मालूम होगा कि इसमें अपराधी को समुचित शिक्षा करना वर्जित नहीं हुआ और घर--मकान बांधना तथा कृषि--वाणिज्य आदि व्यवसाय निषिद्ध नहीं हुआ। अब आप देख सकते हैं कि चाहे राजा हो या पुलिस--अफसर हो, वेपारी हो या सैनिक हो, कृषक हो या हजाम हो, किसी के लिए भी जैनधर्म का अनुसरण अशक्य रह सकता है? सब अपनी अपनी परिस्थिति में इस धर्म का उचित अनुसरण बराबर कर सकते हैं। अहिंसा की या दूसरी किसी बात की ऐसी कोई सख्ताई नहीं है जो जैनधर्म के अनुसरण में किसी व्यक्ति को अडचनरूप हो सके।

एक विद्वान् ने कहा है:—

"Ahimsā is perfectly consistent with social and temporal progress of the highest order, with the life of a king, a warrior, a merchant, a factory-owner and a tiller of the soil. Every body in any and every station of life can practise Ahimsā in such a degree and to such an extent as his

special circumstances allow. It does not debar the Jainas from taking up arms in defence of justice and righteousness, to protect the weak from the tyrannical and to enforce the observance of solemn treaties and sacred pledges. It only prohibits them from aggressive militarism, from want on bloodshed and from acts of brutal cruelty."

पूर्वकाल में जैन राजा, महाराजा, चक्रवर्ती और जैन मन्त्री कई हो गए हैं जिनकी शौर्य–गाथाएँ इतिहास के पृष्ठों को अलंकृत कर रही हैं। पक्के जैन होते हुए भी उन्होंने देश की रक्षा के लिए, प्रजा के हित के लिए रण–मैदान में बड़े बड़े जंग खेले हैं। गुजरात का पक्का जैन राजा 'कुमारपाल' एक तरफ उच्च अहिंसाधर्मी था, तो दूसरी तरफ वैसा ही बलवान् योद्धा था। उसने कितने युद्ध किए और उनमें अपने शौर्य–बल से फतेह पाकर देश का मुख कैसे उज्ज्वल रक्खा यह उसके ऐतिहासिक जीवन–ग्रन्थों को देखने से स्पष्ट होगा।

देश की अवनति का कलंक जैन धर्म या उसकी अहिंसा पर मढना सरासर अन्याय ही होगा। जैन राजा के शासन में और खास कर उसकी अहिंसाप्रियता की बदौलत देश की अवनति का सूत्रपात हुआ हो ऐसा इतिहास में कहीं पर भी आप को न मिलेगा। जरा ध्यान दीजिए कि इतिहास–प्रसिद्ध वस्तुपाल–तेजपाल, विमलशाह, पेथडशाह, भामाशाह, चांपाशाह, मुंजाल, उदयन वगैरह जैन मन्त्रिओं और राज्यकर्माधिकारिओं के महान् वीरचरित आज भी हमारे लिए कितने स्फूर्त्तिदायक और राष्ट्र–भक्ति के प्रेरक और शिक्षक हैं?

मुख्यतया उसी हिंसा को जैनदर्शन में तिरस्कृत किया है जो

अधमवासना-मूलक हो-नीचस्वार्थ-प्रेरित हो। बाकी, गृहस्था-श्रमोचित कर्तव्य-पालन के अनुसन्धान में, यदि कोई चोर, डाकू, गुंडा या बदमाश आक्रमण करता धँस आवे, तो उस वक्त उसका समुचित सामना करना अवश्य उचित है। उसे कौन निषिद्ध बतलायगा? उस समय जो मनुष्य अपनी कायरता को छिपाने के लिए अपने को अहिंसा के कृत्रिम आवरण से लपेटता है, वह निःसन्देह, अहिंसा भगवती को बदनाम करता है। 'क्षत्रियाः शस्त्रपाणयः' दूसरे पर जुल्म गुजारने के लिए नहीं हैं, किन्तु देश की, प्रजा की, न्याय की और दीन-हीन-अनाथ-गरीब-पीडित प्राणिओं की रक्षा के लिए हैं। ऐसे न्यायसम्पन्न, प्रशमाभरणभूतपराक्रमशाली नर-वीरों के शस्त्र-प्रहरण-सज्ज कर-कमल गृहस्थाश्रम की दृष्टि से जरूर देश के अलंकाररूप हैं। परन्तु धर्म के नाम पर देव-देवी के आगे और यज्ञादि में जो हिंसाचरण का प्रचलन था और अब भी है, उसको जैन धर्म ने अत्यन्त निन्दित और गर्हित घोषित किया है, और साथ ही उस दूषित प्रथा को मिटाने की दिशा में उसकी सतत चलती रही प्रयत्न-परम्परा को बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त हुई है। यह तो सब कोई जानते हैं कि अहिंसा के प्रचारकों में भगवान् महावीर का प्रमुख स्थान है। उनके समकालिक पूज्य महर्षि बुद्ध का भी तत्सम्बन्धी प्रयत्न महान् स्तुत्य और उल्लेखनीय है। परन्तु महात्मा बुद्ध के अवसान के बाद उनका अहिंसा-शासन क्रमशः अधिकाधिक गिरता चला, जब, भगवान् महावीर की संघ-व्यवस्था और शासनपद्धति इतनी व्यवस्थित थी कि उनकी अविच्छिन्न परम्परा में अहिंसा का शासन खूब ही दृढ़ रहा है। इतना ही नहीं, भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद भी उनकी अविच्छिन्न और व्यवस्थित पट्ट-परम्परा में आज तक जो प्रभावशाली आचार्य, उपाध्याय और मुनि हुए हैं उनके द्वारा और उनके भक्त नरेशों,

अमात्यों और घी-श्री-अधिकारसम्पन्न गृहस्थों के द्वारा अहिंसा-पोषक प्रयत्न उत्तरोत्तर बराबर होता रहा है। इन (जैन) साधुओं का प्रवास और उपदेश-प्रचार पिछले जमाने में गुजरात, मारवाड़ आदि में ज्यादह रहा है। यही कारण है कि उन देशों में अहिंसा का वातावरण आज भी अधिकांश पुष्ट रूप में दिखाई देता है। भारत की गौरव-मूर्ति लोकमान्य तिलक ने एक वक्त अपने व्याख्यान में कहा था कि-'अहिंसा परमो धर्मः' का असर ब्राह्मण-धर्म पर बड़ा जबरदस्त पडा है, अर्थात् यज्ञादि में पशुहिंसा जो होती थी, वह आज कल नहीं होती, यह जैन धर्म की ब्राह्मण-धर्म पर बड़ी भारी छाप है। ब्राह्मण-धर्म में से हिंसा के घोर पातक को हटाने का श्रेय जैन धर्म को है'।

नौर्वेजीयन विद्वान् डॉ. स्टीनकोनो कहते हैं:--

'आज भी अहिंसा की शक्ति पूर्ण रूप से जागृत है। जहाँ कहीं भारतीय विचार और भारतीय सभ्यता ने प्रवेश किया है, वहाँ सदैव भारत का यही सन्देश रहा है। यह तो संसार को भारत का गगनभेदी सन्देश है। मेरा विश्वास है कि पितृभूमि भारत के भावी भाग्य में कुछ भी होना निर्मित हो, परन्तु भारतीयों का यह सिद्धान्त सदैव अखंड रहेगा'। अस्तु

अब मैं चाहता हूँ कि जैनसाहित्यविषयक भी जरा सूचन कर लूँ

जैनसाहित्य

विना अतिशयोक्ति के मैं यह कह सकता हूँ कि, जैनसाहित्य जब से प्रकाश में आने लगा है, तब से देश-विदेश के अभ्यासी विद्वान् उस पर बड़े मुग्ध होने लगे हैं। जैनों की आगम-भाषा 'अर्धमागधी' है। उसमें आगमों के सिवाय और भी बहुत विपुल वाङ्मय है'

डॉ॰ हर्मन जेकोबी के उद्गार हैं किः—

" Had there not been Jaina books belonging to the Prākrita literature, we should not be able now to form an idea of what Prākrita literature was, which once was the rival of Sanskrita literature and certainly more popular than Sanskrita literature......We are much indebted to the Jainas for all the glimpses we get of the popular Prākrita literature. "

संस्कृत में व्याकरण, काव्य, साहित्य, अलंकार, न्याय, वैद्यक, ज्योतिष और धार्मिक एवं दार्शनिक वगैरह अनेक विषयों की साहित्य-समृद्धि बड़े ही विस्तृत प्रमाण में है। जर्मन डॉ॰ हर्टल का कहना है किः—

"Now what would Sanskrita poetry be without the large Sanskrita literature of the Jainas ! The more I learn to know it, the more my admiration rises."

अर्थात्-जैनों के महान् संस्कृत-साहित्य के विना संस्कृत-कविता क्या रहेगी ? इस विषय में मुझे ज्यों ज्यों अधिक जानने का मिलता है, त्यों त्यों मेरा साश्चर्य आनन्द बढ़ता जाता है।

संस्कृत-प्राकृत सिवाय गुजराती, हिन्दी और तामिल आदि भाषाओं में भी पुष्कल जैनसाहित्य है। डॉ॰ हर्टल साहब कहते हैंः-

" They (Jainas) are the creators of very extensive popular literature."

अर्थात्— जैन बहुत विशाल लोक-भोग्य साहित्य के स्रष्टा हैं।

पाटण, जेसलमेर, खंभात और बरोडा आदि स्थलों के जैन ग्रन्थ-भंडार अब भी विपुल साहित्य-लक्ष्मी से भरे पड़े हैं।

पूर्वकाल के महान् प्रभावशाली जैन आचार्यों और श्रमणों की प्रचंड विद्वत्ता, महान् ग्रन्थकारिता और ज्वलन्त ज्ञान-भक्ति का यह परिणाम है। उन उदार सन्तों ने जैनेतरों के भी न्याय-व्याकरण-साहित्यादिविषयक संस्कृत ग्रन्थों पर टीका-वृत्ति-टिप्पणियाँ रचकर उनके पठन-पाठन का मार्ग सरल कर दिया है। जैन ग्रन्थ-भंडारों में जैन ग्रन्थों के साथ जैनेतर ग्रन्थों का भी संरक्षण जैन लोग करते रहे हैं।

इतिहास-कला भी जैनों की अपूर्व है। गुजरात के इतिहास का मूल जैन इतिहास में है। इतना ही नहीं, गुजरात के इतिहास के संरक्षण का श्रेय भी जैनों को दिया जाय तो भी अनुचित न होगा। अनेक प्राचीन शिलालेखों, पट्टकों, मूर्त्तिओं, ग्रन्थों, सिक्कों और तीर्थस्थानों में जैन इतिहास की चीजें बहुत प्रचुर प्रमाण में उपलब्ध होती हैं। जैन राजा खारवेल की गुफाएँ, आबू पर का आश्चर्यपूर्ण नकशीकाम, शत्रुंजय पर्वत पर के मन्दिर और जैनों का स्थापत्य ये सब शिल्प-कला के श्रेष्ठ नमूने हैं, और जैनों की शिल्प-कला-प्रियता कितनी हद तक थी इसकी कल्पना में विचारक द्रष्टाओं को निमग्न बना देते हैं।

जैनधर्म की पवित्र और व्यापक संस्था

प्रिय सज्जनो! अब मैं उपसंहार पर आऊँ उसके पहले और एक बात कह दूँ। देखिए, सत्य हमेशां एक (Universal) है, अलग अलग × नहीं। और सत्य ही धर्म है, अत एव वह एक ही है, अनेक नहीं हो सकता। उसे अपने स्थापक की भी जरूरत

× "Eternal truth is one, but it is reflected in the minds of the singers."

नहीं। अतः न उसकी आदि हो सकती है और न अन्त ही। इससे यह स्पष्ट है कि धर्म एकीकरण-विधायक शक्तिरूप ही होना चाहिए, नहीं कि भेदविधायक फेक्टर। उसका अकृत्रिम स्वाभाविक शुद्ध सत्य ही उसका सबसे बड़ा आकर्षण है। निःसन्देह, उसकी संस्था, धार्मिक भेदक भिन्नताओं को मिटा कर विश्वबन्धुत्व की स्थापना के लिए ही होती है। यही उसका लक्ष्य-बिन्दु होगा।

इस दृष्टि से जब जैनधर्म की आलोचना करते हैं, तब मालूम होता है कि वह उसका उपदेश [Preaching] है, जिसने वीतरागत्व की पूर्ण सिद्धि से केवलज्ञान [Omniscience] को प्राप्त कर के पीछे उसको प्रकाशित किया है। असत्य का प्रवेश वहाँ सम्भवित है, जहाँ राग-द्वेष-मोह हैं। परन्तु जो इन दोषों के ऊपर उठा है और जिसने पूर्णपावित्र्यद्वारा पूर्ण विमल ज्ञान प्राप्त किया है, उसके तत्त्वप्रकाशन में असत्य का सम्भव कैसा? भगवान् जिन ने 'उच्च' कहलाते हुए और 'नीच' कहलाते हुए—सबको समान रूप से उपदेश किया है। उस उपदेश का द्वार देश-जाति-कुल-सम्प्रदायसम्बन्धी किसी प्रकार के भेद विना, सब के लिए खुल्ला रहता है। इस हेतु से जैन धर्म को यदि जगद्गामी-विश्वव्यापी [Cosmopolitan] धर्म कहा जाय तो असंगति या अत्युक्ति न होगी। चोर, डाकू, शिकारी, कसाई वगैरह भयंकर नीच, पापी और बदमाश लोगों ने जब जैन धर्म की मुख्य शिक्षा-प्रेम और अनुकम्पा, दया और सेवा को सीखा और अपने जीवन में उन्हें उतारा, तब वे भी अपना आत्मोद्धार कर सके। जैन धर्म जिन का उपदेश है, और सब जिनों का धर्मोपदेश एकरूप ही होता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि उत्तरोत्तर जिन पूर्व-पूर्वजिन-प्रकाशित धर्म को पुष्ट करते हैं। ऐसी उसकी विशद परम्परा है—

Good will to all and ill will to none is the one distinguishing feature of Jainism. Its simple teachings such as to abstain from evil thoughts, words and deeds, and to cherish universal love, can be easily attractive of any one who has com mon sense.

एक विद्वान ने जैनधर्म की उच्च और विशद पद्धति के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए लिखा है कि:—

" In Jainism there is neither promise nor persuasion, neither flattery nor frightening. Conversion by coercion, by temptations, by deceit or by terrorising is not a point of faith in Jainism. The thunder of Zeus, the prospect of Houris, the tortures of hell form no forces to draw a soul to Jainism. Its truth is universal. It is the most ancient and the most thorough system of Rationalism in the world. It is a sober truth, propounded after deep and deliberate consideration."

श्रीमान् जी. एस. खापर्डे महाशय ने कहा था:—

"The Karma philosophy and the Jaina ethical code demonstrate that the Jainas have been an eminently democratic people, highly independent in thought and character, with no spiritual or temporal fetters to keep them cribbed, cabinned and confined."

उपसंहार

मित्रो ! अब इस लेख को समाप्त करते हुए जो अन्तिम शब्द

मैं कहना चाहता हूँ वह यह है कि, जमाना अब यह आ गया है कि हमें धार्मिक संकुचितता को दूर कर एक-दूसरे के धर्म का आदर करना सीखना चाहिए। धार्मिक झगड़े हमने बहुत किए, और इससे हमारी, हमारे देश की कितनी दुर्गति हुई है यह आप सोच सकते हैं। अब इन साम्प्रदायिक या कौमी कलहों को मिटा कर हम सब को सच्चे बन्धुभाव के महान् सूत्र में आबद्ध होना चाहिए। साम्प्रदायिक भिन्नता हमारे पारस्परिक सौमनस्य और सुहृद्भाव में विघ्नरूप न बने इसका हमें पूर्ण खयाल रखना चाहिए। तभी हमारा सच्चा संगठन होगा और हमारी सामुदायिक शक्ति बढ़ेगी; और तभी हम अपने राष्ट्रीय ध्येय को सिद्ध कर सकेंगे।

"स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः" का संकुचित अर्थ, जो कि सामुदायिक-शक्ति-संगठन का कट्टर दुश्मन है, छोड कर, 'स्वधर्म' का अर्थ आत्म-धर्म (spiritual duties), और 'परधर्म' का अर्थ जड़-मोह अथवा विषय-दास्य करना चाहिए। यही वास्तविक अर्थ है। और इसी को दृष्टि-सम्मुख रख कर चलने में हमारी उन्नति है। सामान्य सार्वलौकिक धर्म हैः—

"पञ्चैतानि पवित्राणि सर्वेषां धर्मचारिणाम्।
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमलुब्धता॥"

बस, इस विश्व-धर्म की उद्घोषणा को हम अपने हृदय पर अंकित करें! और अपने जीवन में विश्वप्रेम के महान् आदर्श का विकास करते हुए आगे बढ़ें! ॐ शान्तिः!

ता. १५-४-३७

In the fundamental identity of all religions we must seek our refuge if we desire to advance spiritually.